हमारा शहर उस बरस

आसान दीखनेवाली मुश्किल कृति ‘हमारा शहर उस बरस’ में साक्षात्कार होता है एक कठिन समय की बहुआयामी और उलझाव पैदा करनेवाली डरावनी सच्चाइयों से। बात ‘उस बरस’ की है, जब ‘हमारा शहर’ आए दिन साम्प्रदायिक दंगों से ग्रस्त हो जाता था। आगजनी, मारकाट और तद्‌जनित दहशत रोज़मर्रा का जीवन बनकर एक भयावह सहजता पाते जा रहे थे। कृत्रिम जीवन-शैली का यों सहज होना शहरवासियों की मानसिकता, व्यक्तित्व, बल्कि पूरे वजूद पर चोट कर रहा था। बात दरअसल उस बरस भर की नहीं है। उस बरस को हम आज में भी घसीट लाए हैं। न ही बात है सिर्फ़ हमारे शहर की। ‘और शहरों जैसा ही है हमारा शहर’—सुलगता, खदकता—‘स्रोत और प्रतिबिम्ब दोनों ही’ मौजूदा स्थिति का। एक आततायी आपातस्थिति, जिसका हल फ़ौरन ढूँढ़ना है; पर स्थिति समझ में आए, तब न निकले हल। पुरानी धारणाएँ फिट बैठती नहीं, नई सूझती नहीं, वक़्त है नहीं कि जब सूझें, तब उन्हें लागू करके जूझें स्थिति से। न जाने क्या से क्या हो जाए तब तक। वे संगीनें जो दूर हैं उधर, उन पर मुड़ीं, वे हम पर भी न मुड़ जाएँ, वह धूल-धुआँ जो उधर भरा है, इधर भी न मुड़ आए। अभी भी जो समझ रहे हैं कि दंगे उधर हैं—दूर, उस पार, उन लोगों में—पाते हैं कि ‘उधर’ ‘इधर’ बढ़ आया है, ‘वे’ लोग ‘हम’ लोग भी हैं, और इधर-उधर वे-हम करके ख़ुद को झूठी तसल्ली नहीं दी जा सकती। दंगे जहाँ हो रहे हैं, वहाँ ख़ून बह रहा है। सो, यहाँ भी बह रहा है, हमारी खाल के नीचे। अपनी ही खाल के नीचे छिड़े दंगे से दरपेश होने की कोशिश ही इस गाथा का मूल। ख़ुद को चीरफाड़ के लिए वैज्ञानिक की मेज़ पर धर देने जैसा। अपने को नंगा करने का प्रयास ही अपने शहर को समझने, उसके प्रवाहों को मोड़ देने की एकमात्र शुरुआत हो सकती है। यही शुरुआत एक ज़बरदस्त प्रयोग द्वारा गीतांजलि श्री ने ‘हमारा शहर उस बरस’ में की है। जान न पाने की बढ़ती बेबसी के बीच जानने की तरफ़ ले जाते हुए।   ज्यादा जानकारी के लिए क्लिक करे